

तालीम पर जिंदादिल बयान

लाल्टू

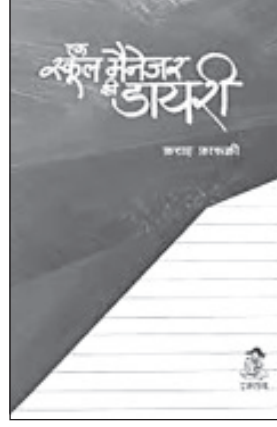
परख

रोजमर्रा की जिंदगी में हर कोई अक्सर अनोखे तजुर्बो से गुजरता है. पर ऐसे काबिल लोग कम हैं जो इन तजुर्बो को शोध का विषय बनाकर पहले जहन और बाद में कागज के सफों पर दर्ज कर लें. कभी यूं दर्ज हुई सच्ची कहानियां किताब की शकल अख्तियार कर लेती हैं और हम इसे पढ़ते हुए हैरान होते हैं कि ऐसी बातें हम क्यों नहीं लिख रहे. ऐसी कोई किताब पढ़ते हुए हम दरअसल कहीं और खो जाते हैं, अपनी मामूली दुनिया से कहीं दूर, जहां लिखने वाले के कदम पेचो-खम वाली पगडंडियों पर चल रहे होते हैं; और हम उसके सुख-दुख के महज गवाह नहीं, बल्कि भागीदार होते रहते हैं. प्रो. फराह फारूकी की 'एक स्कूल मैनेजर की डायरी' को पढ़ना ऐसे ही एक सफर से गुजरना है, जिसमें न केवल एक खास स्कूल में पढ़ रहे खास तरह के छात्रों और उनको पढ़ा रहे खास पृष्ठभूमि से आए अध्यापकों और तमाम और कारकुनों के रूबरू होते हैं, यह मौजूदा हिंदुस्तान में आम बच्चों की तालीम से जुड़ी सच्चाइयों और खास तौर पर संख्या लघु समुदाय से आए बच्चों की तालीम की दुनिया की हकीकतों का जरूरी दस्तावेज भी है.

फराह ने अपनी किताब की भूमिका का शीर्षक 'सफर की शुरुआत' रखा है. वाकई यह एक सफर ही है, जिसमें से वे खुद गुजरें और साथ में हम सबको हमसफर बना कर ले चली हैं. अपने समाजशास्त्र पढ़ रहे छात्रा और बेटे के हवाले से फराह ने अपनी 'डायरी' के अकादमिक पहलू को ऑटो-एथनोग्राफी

कहा है. अंग्रेजी के इस लफज का मतलब कुछ ऐसा है कि आत्म-चिंतन और मंथन करते हुए कुछ निजी तजुर्बो और कुछ औरों की कही को दर्ज करते हुए कोई समकालीन समाज और संस्कृति के अहम मुद्दों के साथ कुशी लड़ रहा हो. जाहिर है कि इसमें राजनैतिक सवाल भी होंगे. शुरुआत में ही फराह इसके

पर्याप्त संकेत देती हैं. मसलन लिखने की भाषा पर वो कहती हैं, 'जहां तक जबान का ताल्लुक है, एक सरल हिंदुस्तानी जबान जो हिंदी और उर्दू के दायरों को फैलाती और जोड़ती है उसे अकादमिक न मानने की सियासत और बेरुखी भई हमें तो कुबूल नहीं.' बेशक, विमर्श की भाषा को जबरन जटिल बनाए रखना एक जन-विरोधी प्रवृत्ति है, जो आखिरकार कभी सफल नहीं होती है, जैसा कि हम बनावटी ढंग से गढ़ी गई तत्समनिष्ठ भाषा के हथ्र से देख सकते हैं. वैसे भी हिंदी-उर्दू-हिंदुस्तानी दरअसल एक ही जुबान है और इसमें तत्सम और अरबी-फारसी लफजों के इस्तेमाल की अलग-अलग तहजीबें हैं, जिन्हें हम हिंदी या उर्दू कहते हैं. फिरकापरस्ती के नजरिए से भाषा को बांटकर ऐसा जहर फैलाया गया है कि यह मान ही लिया गया है कि ये अलग जुबानें हैं. इसका बस इतना फायदा हुआ है कि उर्दू की तहजीब को कूढ़मगज संस्कृतवादियों से बचाकर रखना मुमकिन हो पाया है. यह खतरा है कि हिंदी-उर्दू को सबने एक जुबान मान लिया होता तो दो पीढ़ियों में ही उर्दू खत्म हो गई होती. इस समीक्षक



की अपनी समझ यह है कि भाषा वही होती है जो लोग बोलते हैं. जो शब्द लोक-भाषा में नहीं आते, वे आखिरकार भाषा के दायरे से गायब हो जाते हैं. फराह खुद लफजों और वर्तनी को लेकर काफी सतर्क हैं, हम इस सावधानी से बचकर ही अपनी बात कहेंगे. मसलन फराह 'तजरबा' और जबान लिखती हैं, पर

हम तजुर्बा और जुबान कहते हैं तो ऐसा ही लिखते हैं. जहां तक अकादमिक स्तर की बात है, यह किताब आसान शैली में शिक्षा से जुड़े ऐसे गंभीर अकादमिक मसलों को आम पाठक तक पहुंचाती है, जो शोध पत्रिकाओं में छपते परचों से मुमकिन नहीं हो पाता है.

एक सौ साल से भी ज्यादा पुराने स्कूल में मैनेजर की हैसियत से हस्तक्षेप करते हुए फराह फारूकी ने तजुर्बो की शकल में जिन मुद्दों को हमारे सामने रखा है, उनमें से ज्यादातर ऐसे हैं जो मुल्क के किसी आम सरकारी या सरकारी मदद से चल रहे स्कूल में हो सकते हैं. हमारे समाज में गरीब बच्चों के लिए तालीम को महज एक मजबूरी-सा मान लिया गया है. यह कहा जा सके कि बच्चे स्कूल आते हैं, वे साक्षर हो रहे हैं, इसके लिए स्कूल का ढांचा है, जो इमारत से लेकर कुछ अध्यापकों और कर्मचारियों तक सीमित है. बड़े शहरों में कुछेक सरकारी या अर्द्ध-सरकारी स्कूलों में हालात बेहतर हैं, बाकी सारे मुल्क में भेड़-बकरियों जैसे बच्चों को बिठाकर कुछ पढ़ाने की कोशिश सी है. यह बात संपन्न और मध्य-वर्ग के लोगों को

सही नहीं लगती है क्योंकि उनके बच्चे या तो बेहतर सरकारी स्कूलों में पढ़ रहे हैं या निजी स्कूलों में दाखिल हैं।

यह किताब मुल्क के बदहाल स्कूलों में से ही ऐसे एक स्कूल के बारे में है जो मुसलमानों के मुहल्ले में मुसलमान बच्चों का है। यह बात जगजाहिर है कि आजादी के बाद से देश में मुसलमानों की स्थिति में लगातार गिरावट आती गई है। पंद्रह साल पहले आई सच्चर आयोग की रिपोर्ट के अलावा और कई सूचकों से यह बात साफ दिखती है। एक सभ्य देश में अक्लीयत की बेहतर का जो आदर्श होना चाहिए, उसमें भारत पूरी तरह से असफल रहा है। स्कूल ऐसे इलाके में है, जहां मुल्क के बंटवारे के बाद से हालात लगातार बिगड़ते रहे। चुनांचे इस स्कूल की बदहाली से हम हैरान नहीं होते हैं। फराह खुद एक मुसलमान पृष्ठभूमि से आती हैं, इसलिए आम बातें जो किसी भी अच्छे शोधार्थी को दर्ज करनी चाहिए, इनके अलावा उनके नजरिए में ऐसी बातें भी हैं जो अक्लीयत में होने के एहसास और जेंडर दोनों लिहाज से खास हैं।

भूमिका के अलावा किताब में सत्रह अध्याय हैं। मानविकी में माहिर होने की वजह से शोध के विषयों का अध्यायों में वर्गीकरण बखूबी से किया गया है। इक्के-दुक्के पुश्तैनी खानदानों के बीच उत्तर भारत के विभिन्न इलाकों से आकर दिल्ली के गली-कूचों में बसे गरीब मुसलमान मजदूर परिवारों के बच्चों की तालीम के हालात पर लिखते हुए शोधार्थी प्रो. फारूकी इलाके और स्कूल के इतिहास और बदलते सामाजिक-राजनैतिक रिश्तों को गहराई से देखती हैं। अध्यायों के वर्गीकरण में सबसे पहले बच्चे और उनका सामाजिक परिवेश है, फिर स्कूल का प्रशासकीय ढांचा है—तमाम लोग और उनके काम। फिर बच्चे वापस आते हैं, उनसे बातचीत, क्लास की पढ़ाई—इसके बाद समाज-वैज्ञानिक और शिक्षाविद का विश्लेषण है। दो अध्याय काम करते हुए बने रिश्ते और

जज्वाती तजुबों पर हैं। आखिरी अध्याय सियासत की तहों के साथ स्कूल के बने रहने की जद्दोजहद पर है। वक्फ बोर्ड की जगह और बाकायदा इसके देख-रेख के लिए मौजूद सोसायटी के रहते भी स्कूल के मॉल बनने की या दीगर और शक्ल बदलने की अफवाहों के बीच स्कूल टिका हुआ है।

अक्सर हम तालीम या किसी भी और खित्ते में मौजूदा सत्ता-समीकरणों में हर तरह की खराबी को औपनिवेशिक काल की देन कहकर अंग्रेजों के मखे दोष थोप देते हैं। ऐसा करते हुए हम अपनी खामियों से बचना चाहते हैं जो सदियों से हमारे समाज में रही हैं। यह अलग बात है कि आधुनिक समय में, जो हमारे यहां यूरोपियों के आने के साथ आया, सत्ता के समीकरण पहले से ज्यादा औपचारिक जामा पहने और मजबूत होते नजर आते हैं। तालीम के इदारों में भी यह सब कुछ बाकायदा चलता आया—कौन सीनियर है और कौन जूनियर, ऐसी बातें अहम होती हैं। साथ में जाति, जेंडर और वर्ग के फर्क। अध्यापकों में ये औपचारिक रूप से जमे हुए संबंध हैं तो बच्चों में लचीले और उम्र के लिहाज से बनते-बिगड़ते हैं। ऐसे में एक तरक्कीपसंद खयालों की मैनेजर का आना बहुत कुछ हिला डालता है। पुराने समीकरणों पर सवाल खड़े होते हैं तो प्रतिरोध भी साथ ही दिखता है। इन बातों को दर्ज करते हुए फराह कहीं तरक्कीपसंद होने या दिखने के दबाव में हैं, ऐसा कहीं-कहीं लगता है। पर यह पिछली सदी में आजादी के दौरान उभरा परंपराओं को नकारता तरक्कीपसंद-खयाल नहीं, बल्कि एक उदार बारहम नजरिया है। इस नजरिए में बच्चों का कलाम पाक यानी कुरान की आयतें पढ़ना खारिज या दरकिनार नहीं, बल्कि एक बड़ी जगह लेता है। यह मैनेजर अफसर कम और ज्यादा रहनुमा-सा दिखता है।

इस 'डायरी' के सबसे दिलचस्प हिस्से बच्चों के बारे में लिखी बातें हैं। उनकी समझदारी, उनके झगड़े, घर-परिवार की तमाम

मुश्किलात के बीच उनकी तालीमयाप्ता होने की चाह, और उनका प्यार, यह सब पढ़ते हुए जी भावुकता से भर आता है। अंधेरे कूचों से आए ऐसे बच्चों को कैसे पढ़ाया जाए, इस पर दुनिया भर में बहुत सोचा और लिखा-पढ़ा गया है और इस संदर्भ में पाउलो फ्रेरे एक क्लासिक नाम हैं, जिनकी आधी सदी पहले लिखी किताब 'पेडागोजी ऑफ द ऑप्रेस्ट' दुनिया भर में पढ़ी जाती है। उनका मानना था कि तालीम के जरिए या तो हम बच्चों को व्यवस्था का गुलाम बनाते हैं या वे आजादखयाल हो जाते हैं। यही बात फराह भी अलग-अलग अध्यापकों के पढ़ाने के तरीकों में देखती हैं। जैसा आम स्कूलों में होता है, यहां भी बच्चों को 'दड़बे' में बंद रखने के तरीकों की भरमार है। बच्चों के भी हक होते हैं, यह बात अध्यापकों को समझाने के लिए मैनेजर को काफी शिद्दत करनी पड़ती है। इस सबके बावजूद बच्चे जब जिम्मेदारी लेते हैं, तो उनकी परिपक्वता काबिले-तारीफ होती है। वे स्कूल को अपनी जिंदगी का अहम हिस्सा मानते हैं—

और गर्व से इसके लिए कुछ बेहतर करने की चाह रखते हैं।

कुल मिलाकर यह 'डायरी' एक लाजवाब शोध-आधारित काम है, जिसे आप चाहें तो शोधार्थी-सा पढ़ें या फिर महज अफसाने पढ़ने का शौक पूरा करें। अगर तालीम से आपका बावस्ता है या आप इसमें रुचि रखते हैं तो आपके लिए इस किताब को पढ़ना जरूरी है।



पुस्तक : एक स्कूल मैनेजर की डायरी

लेखक : फराह फारूकी

प्रकाशक : एकलव्य भोपाल

मूल्य : 220 रुपए

संपर्क : इंटरनेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ इंफॉर्मेशन टेक्नोलॉजी, गाच्चीबॉवली, हैदराबाद-500032 (तेलंगाना)

ईमेल : laltu10@gmail.com

